□ श्रीमती शान्तिदेवी जैन
[एम० ए०, 'विशारद', प्रभाकर]

तीर्थंकरों की धर्म-देशना लोक भाषा में होती है, जिसे आज हम 'आगम' के नाम से जानते हैं। आगमों की भाषा अर्धमागधी किंवा प्राकृत का विशाल साहित्य न केवल धार्मिक दृष्टि से भी किन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्व रखता है।

जैन आगम और प्राकृत : भाषा-विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में एक परिशीलन

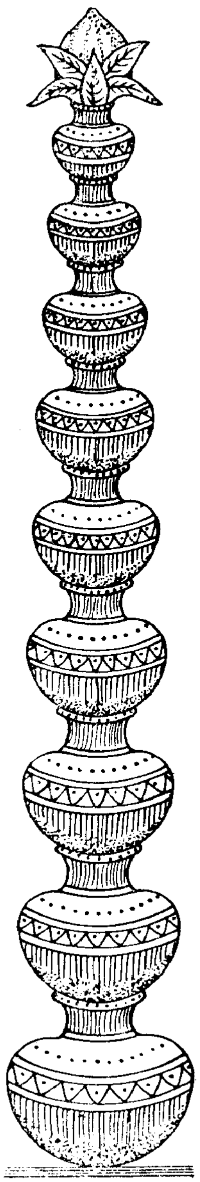

□

विचार और भाषा

भाषा विचार-संवहन का माध्यम है। महापुरुषों या महान् साधकों के अपने लिए तो यह अपेक्षित नहीं होता कि उनके सत्त्व-संभृत विचार वागात्मक या शाब्दिक रूप लें क्योंकि आत्मा-शान्ति-शब्द, जो अनात्म है, पर अवस्थित नहीं है। वह तो आत्मालोचन, अन्तर्मन्थन, स्परूप परिणति एवं स्वभाव-विहार पर आधृत है। पर, यह भी महापुरुषों के लिए उनके आत्म-सुख का अभिवर्द्धक है, जो शाश्वत सत्य उन्हें उपलब्ध हुआ, संसार के अन्य प्राणी भी, जो दुःखाक्रान्त हैं—उसे आत्मसात् करें, दुःखों से छूटें, उनकी तरह वे भी सुखी बनें। यह करुणा का निर्मल स्रोत वाग्धारा के रूप में फूट पड़ता है, जो आगे चलकर एक शाश्वत साहित्य का रूप ले लेता है।

लोक-कल्याण-हेतु लोक-भाषा में धर्म-देशना

उनके विचारों से जन-जन, प्राणी मात्र लाभान्वित हों, सबकी उन तक सीधी पहुँच हो, किसी दूसरे के माध्यम से नहीं, स्वयं सहज भाव से वे उन (विचारों) को आत्मसात् कर पाएँ, इसी हेतु तीर्थंकरों की धर्म-देशना लोक-भाषा में होती है, उस भाषा में जो जन-जन की है—जिसे साधारणतः (उस क्षेत्र का) हर कोई व्यक्ति बिना किसी कठिनाई के समझ सके। इसीलिए कहा गया है—

बालस्त्रीवृद्धमूर्खाणां, नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥"[१]

इसका पाठान्तर यों भी है—

बालस्त्री-मन्द-मूर्खाणां, नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं सर्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृते कृतः ॥

अर्थात् बालक, महिलाएँ, वृद्ध, अनपढ़—सब, जो सत् चारित्र्य—सद् आचार—सद् धर्म की आकांक्षा रखते हैं, पर अनुग्रह करने के हेतु तत्त्वज्ञों या सर्वज्ञों ने प्राकृत भाषा में धर्म-सिद्धान्त का उपदेश किया।[२]

इस युग के अन्तिम उपदेश, धर्म-तीर्थ के संस्थापक, चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर थे। इस समय जो आगम या आर्ष वाङ्मय के रूप में साहित्य उपलब्ध है, वह उन्हीं की धर्म-देशना का प्रतीक है। भगवान् महावीर जो भी बोले अथवा उनके मुख से जो भी शब्दात्मक या ध्वन्यात्मक उद्गार निकले, वे प्राकृत—अर्द्धमागधी प्राकृत में परिणत हुए, श्रोतृगण उन (विचारों) से अभिप्रेरित हुए, उद्बोधित हुए। (भगवान के प्रमुख शिष्य गणधरों ने उन्हें ग्रथित किया। उनका अन्ततः जितना जो संकलन हो सका, वही आज का (अर्द्धमागधी) आगम-वाङ्मय है।

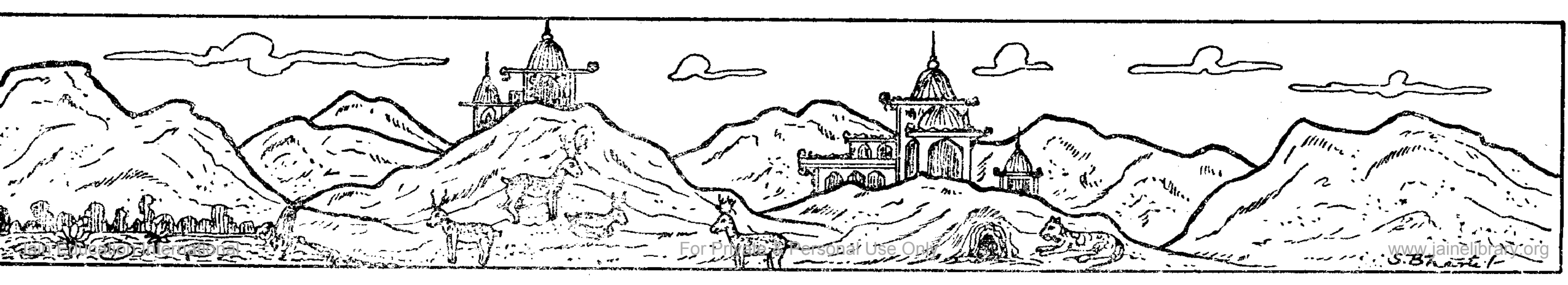

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशस्ति की भाषा में यहाँ तक कहा गया है कि भगवान द्वारा अर्द्धमागधी में अभिव्यक्त उद्गारों को मनुष्यों के साथ-साथ देवता भी सुनते थे, पशु-पक्षी भी सुनते थे, समझते थे। क्योंकि वे भिन्न-भिन्न भाषाभाषियों के अपनी-अपनी भाषाओं के पुद्गलों में परिणत हो जाते थे। यह भी कहा गया है कि अर्द्धमागधी आर्य भाषा है। देवता इसी में बोलते हैं।[3]

इस सम्बन्ध में हमें यहाँ विचार नही करना है। अतएव केवल संकेत मात्र किया गया है। विशेषतः भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हम यहाँ संक्षेप में प्राकृत पर विचार करेंगे।

आर्य भाषा परिवार और प्राकृत

विगत शताब्दी से संसार के विभिन्न देशों के विश्वविद्यालयों तथा विद्या केन्द्रों में भिन्न-भिन्न भाषाओं के वैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षात्मक अध्ययन का विशेष क्रम चला है, जिसे भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र (Linguistics) कहा जाता है। वैसे देखा जाए तो हमारे देश के लिए यह कोई सर्वथा नवीन विषय नहीं है। व्युत्पत्ति-शास्त्र के महान् पण्डित यास्क, जिनका समय ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी माना जाता है, द्वारा रचित निरुक्त नामक व्युत्पत्ति शास्त्रीय ग्रन्थ से प्रकट है कि देश में इस विषय पर व्यवस्थित रूप में अध्ययन चलता था। निरुक्त विश्व-वाङ्मय में व्युत्पत्ति शास्त्र-सम्बन्धी प्रथम ग्रन्थ है। यास्क ने अपने ग्रन्थ में अग्रायण, औदुम्बरायण, और्णनाभ, गालव, चर्मशिरा, शाकटायन तथा शाकल्य आदि अपने प्राग्वर्ती तथा समसामयिक व्युत्पत्ति शास्त्र व व्याकरण के विद्वानों की चर्चा की है, जिससे अध्ययन की इस शाखा की और अधिक प्राचीनता सिद्ध होती है। यास्क ने अपने इस ग्रन्थ में १२९८ व्युत्पत्तियाँ उपस्थित की हैं, जिनमें सैकड़ों बहुत ही विज्ञान सम्मत एवं युक्ति पूर्ण हैं।

अस्तु—पर, यह अध्ययन-क्रम आगे नहीं चला, अवरुद्ध हो गया, पिछली शताब्दी में जर्मनी व इङ्गलैण्ड आदि पाश्चात्य देशों के कतिपय विद्वानों ने प्रस्तुत विषय पर विशेष रूप से कार्य किया, जिनमें विशप काल्डवेल, जान बीम्स डी० ट्रम्प, एस० एच० केलाग, हार्नली, सर जार्ज ग्रियर्सन, टर्नर, जूल ब्लाक आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। डॉ० सर रामकृष्ण भंडारकर पहले भारतीय हैं, जिन्होंने आधुनिकता के सन्दर्भ में भाषा-विज्ञान पर कार्य किया।

इससे पूर्व प्राच्य-प्रतीच्य भाषाओं के तुलनात्मक एवं भाषा-शास्त्रीय अध्ययन के सन्दर्भ में जिनसे विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई, उनमें सर विलियम जोन्स का नाम बहुत विख्यात है, वे कलकत्ता में भारत के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश थे। विद्या-व्यसनी थे। लैटिन, ग्रीक, गाथिक आदि प्राचीन पाश्चात्य भाषाओं के बहुत अच्छे विद्वान् थे। हिन्दू लॉ के निर्माण के प्रसंग में उन्होंने संस्कृत पढ़ने का निश्चय किया। बड़ी कठिनाई थी, कोई भारतीय पण्डित तैयार नहीं होता था। अन्ततः बड़ी कठिनता से एक विद्वान् मिला, जिसके सर्वथा अनुकूल रहते हुए विलियम जोन्स ने संस्कृत का गम्भीर अध्ययन किया। पाश्चात्य भाषाओं के विशेषज्ञ वे थे ही, उनकी विद्वत्ता निखर गई। उन्होंने पुरानी पश्चिमी और पूर्वी भाषाओं के तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक अध्ययन-अनुसन्धान के परिणामस्वरूप ऐसे सैकड़ों शब्द खोज निकाले, जो सहस्रों मीलों की दूरी पर अवस्थित लैटिन, ग्रीक तथा संस्कृत के पारस्परिक साम्य या सादृश्य के द्योतक थे। अपनी अनवरत गवेषणा से प्रसूत तथ्यों के आधार या उन्होंने उद्घोषित किया कि जहाँ तक वे अनुमान करते हैं, संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, गाथिक, काल्टिक तथा पुरानी फारसी आदि पश्चिमी एवं पूर्व भाषाओं के व्याकरण, शब्द, धातु, वाक्य-रचना आदि में इस प्रकार का साम्य है कि इनका मूल या आदि स्रोत एक होना चाहिए।

सर विलियम जोन्स का कार्य विद्वानों के लिए वास्तव में बड़ा प्रेरणाप्रद सिद्ध हुआ।

भाषा-विज्ञान का अध्ययन और विकसित होता गया। इसमें संस्कृत-भाषा बड़ी सहायक सिद्ध हुई। अपने गम्भीर अध्ययन-अन्वेषण के परिणामस्वरूप विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संसार में सहस्रों की संख्याओं में प्रसूत भाषाओं के अपने-अपने भिन्न-भिन्न परिवार हैं। मुख्यतः एक ही स्रोत से एकाधिक भाषाएं निकलीं, उत्तरोत्तर उनकी संस्थाएँ विस्तार पाती गईं, परिवर्तित होते-होते उनका रूप इतना बदल गया कि आज साधारणतः उन्हें सर्वथा भिन्न और असम्बद्ध माना जाता है पर, सूक्ष्मता तथा गहराई से खोज करने पर यह तथ्य अज्ञात नहीं रहता कि उन भाषाओं के अन्तरतम में ध्वनि, शब्द, पद-निर्माण, वाक्य-रचना, व्युत्पत्ति आदि की दृष्टि से बड़ा साम्य है। इसी गवेषणा के परिणाम-स्वरूप आज असन्दिग्ध रूप से यह माना जाता है कि परिचय की लैटिन, ग्रीक, जर्मन, अंग्रेजी आदि भाषाओं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तथा मध्य पूर्व की पुरानी फारसी, पूर्व की संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, पंजाबी, बंगला, उड़िया, मैथिली, असमिया, गुजराती तथा मराठी आदि भाषाओं का एक ही परिवार है, जिसे भारोपीय कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि कभी इनका केन्द्रभूत स्रोत एक या समान रहा था, जिसका इन भाषाओं के रूप में आज हम वैविध्य देख रहे हैं। तभी तो समुद्रों पार के व्यवधान के बावजूद हम उनके भीतर एक आश्चर्य कर समरसवाहिता पाते हैं।

इस सन्दर्भ में हम केवल एक उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं—संस्कृत का पितृ शब्द ग्रीक में पेटर (Pater) लैटिन में भी पेटर (Pater), फारसी में पेटर व अंग्रेजी में फादर (Father) दूसरी ओर इसी देश में प्रसूत, प्रसृत एवं प्रचलित कन्नड़, तमिल, तेलगू, मलयालम्, तुलु, कुडागू, टोडा, कोंड, कुरूख, कोलामी, ब्राहुई, आदि भाषाओं से संस्कृत आदि का वैसा साम्य नहीं है क्योंकि ये (तमिल आदि) द्रविड-परिवार की भाषाएँ हैं। यही बात इस देश के कतिपय भीतरी व सीमावर्ती भागों में प्रचलित मुंडा भाषाओं के सम्बन्ध में है, जो आग्नेय परिवार की हैं।

भारोपीय परिवार की एक शाखा आर्य-परिवार है, जिसका क्षेत्र मध्य एशिया से लेकर ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, समग्र उत्तरी भारत तथा बंगलादेश तक फैला हुआ है। प्राकृत इसी शाखा—आर्य-परिवार की भाषा है।

प्राकृत का उद्गम

साधारणतया यह मान्यता रही है कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से है। सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने अपने द्वारा रचित व्याकरण सिद्धहैम शब्दानुशासन के अष्टम अध्याय के प्रारम्भ में, जो उनके व्याकरण का प्राकृत सम्बन्धी अंश है, प्राकृत की प्रकृतियाँ उद्भव के विषय में लिखा है—"प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्" अर्थात् प्राकृत की प्रकृति—उद्गम-स्रोत संस्कृत है। प्राकृत-चन्द्रिका, षड्भाषा-चन्द्रिका, प्राकृत-संजीवनी आदि में इसी सरणि का अनुसरण किया गया है। इसी प्रकार दशरूपक (सिंहदेवगणिरचित) तथा वाग्भटालंकार की टीका में भी विवेचन हुआ है।

प्राचीन विद्वानों में सुप्रसिद्ध अलंकार शास्त्री श्री नमि साधु आदि कुछ ऐसे विद्वान् हैं, जो उपर्युक्त मन्तव्य से सहमत नहीं हैं। वे प्राकृत को किसी भाषा से उद्गत न मानकर उसे अन्य भाषाओं का उद्गम-स्रोत मानते हैं।

श्री नमि साधु ने प्राकृत शब्द की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। वे। लिखते हैं—"प्राक् कृतम्-पूर्व कृतम्=प्राकृतम्, बालमहिलादि सुबोधम्, सकल भाषा निबन्धनभूतं वचन मुच्यते।" अर्थात् इस भाषा का नाम प्राकृत इसलिए है कि पहले से—बहुत पहले से—अति प्राचीन काल से यह चली आ रही है। इसे बालक, स्त्रियाँ आदि सभी सरलता से समझ सकते हैं। यह सब भाषाओं का मूल या आधार है।

वे आगे लिखते हैं—"मेघ निर्मुक्त जलमिवैक-स्वरूपं तदेव विभेदानाप्नोति।" अर्थात् बादल से छूटा हुआ जल वस्तुतः एक स्वरूप होता हुआ भी जहाँ-जहाँ गिरता है, तदनुसार अनेक रूपों में परिवर्तित हो जाता है। वही बात इस भाषा के लिए है।

नमि साधु आगे इसी संदर्भ में संस्कृत की भी चर्चा करते हैं। वे लिखते हैं—"पाणिन्यादि-व्याकरणोदित शब्द लक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।" अर्थात् पाणिनि आदि द्वारा रचित व्याकरणों के नियमों से परिमार्जित या संस्कार युक्त होकर वह (प्राकृत) संस्कृत कहलाती है।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार प्राचीन विद्वानों के दो प्रकार के अभिमत हैं।

हेमचन्द्र का निरूपण : समीक्षा

आचार्य हेमचन्द्र ने प्राकृत की प्रकृति या उद्भव—उत्स के सम्बन्ध में जो लिखा, उसके पीछे उनका सूक्ष्म अभिप्राय क्या था, इस पर विचार करना होगा। हेमचन्द्र जैन परम्परा के आचार्य थे। जैन आगमों में आस्थावान् थे। वे ऐसा कैसे कह सकते थे कि प्राकृत संस्कृत से उद्भूत है। क्योंकि जैन शास्त्र ऐसा नहीं मानते। उन (हेमचन्द्र) द्वारा प्रणीत काव्यानुशासन व (उस पर) स्वोपज्ञ टीका का जो उद्धरण पीछे टिप्पणी में दिया गया है, उससे जैन परम्परा का अभिमत स्पष्ट है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गहराई से सोचने पर ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र के कहने का आशय, जैसा बाह्य रूप में दृष्टिगत होता है, नहीं था। उनके समय में प्राकृत लोक-भाषा नहीं रही थी। क्योंकि प्राकृत-उद्भूत अपभ्रंश से उत्पन्न गुजराती, मराठी, पंजाबी, व्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही, बंगला, उड़िया, असमिया आदि आधुनिक भाषाएँ लोक (जन-जन द्वारा प्रयुज्य) भाषाओं के रूप में अस्तित्व में आ चुकी थीं। प्राकृत का स्वतन्त्र पठन-पाठन अवरुद्ध हो गया था। उसके अध्ययन का माध्यम संस्कृत बन चुकी थी। अधिकांशतः पाठक प्राकृत को समझने के लिए संस्कृत-छाया का अवलम्बन लेने लगे थे। ऐसा कैसे और क्यों हुआ ? यह एक स्वतन्त्र विचार का विषय है, जिस पर यहाँ कुछ कहने का अवकाश नहीं है। संस्कृत के आधार पर प्राकृत के समझे जाने व पढ़े जाने के क्रम के प्रचलन के कारण ही हेमचन्द्र ने संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति बतलाया हो, ऐसा बहुत संभव लगता है। अर्थात् वे संस्कृत के प्रातिपदिक तथा क्रिया रूपों के आधार पर प्राकृत-रूप समझाना चाहते थे।

ऐसा लगता है कि हेमचन्द्र के उत्तरवर्ती प्राकृत-वैयाकरण हेमचन्द्र के इस सूक्ष्म भाव को यथावत् रूप में आत्मसात् नहीं कर पाये। केवल उसके बाह्य कलेवर को देख वे प्राकृत की संस्कृत-मूलकता का आख्यान करते गये। यह एक ढर्रा जैसा हो गया।

संस्कृत अर्थात् संस्कार युक्त

संस्कृत का अर्थ ही संस्कार की हुई, शुद्ध की हुई या परिमार्जित की हुई भाषा है। संस्कार, शोधन या मार्जन उसी भाषा का होता है, जो लोक-भाषा हो, व्याकरण आदि की दृष्टि से जो अपरिनिष्ठित हो। ये बातें अपने लोक-भाषा-काल में प्राकृत में थीं, संस्कृत में नहीं। संस्कृत जैसी परिनिष्ठित, सुव्यवस्थित तथा व्याकरण-निबद्ध भाषा से, प्राकृत जैसी जन-भाषा, जो कभी एक बोली (Dialect) के रूप में थी, कैसे उद्भूत हो सकती है ? भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से अन्वेषण करने पर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि संस्कृत तो स्वयं किसी लोक-भाषा का (जिसे हम प्राकृत का ही कोई रूप मानें तो असंगत नहीं होगा) परिष्कृत रूप है।

भारतीय आर्य भाषाएँ : भाषा वैज्ञानिक विभाजन

आर्य शब्द का आशय, व्यापकता, आर्य शब्द से संज्ञित जातीय लोगों का मूल निवास-स्थान, बाहर से आगमन या अनागमन—आदि विषयों पर भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक दृष्टियों से विचार किया है, विविध प्रकार की स्थापनाएँ की हैं। फिर भी यह विषय अब तक विवादों से सर्वथा मुक्त होकर 'इत्थंभूत' स्थिति तक नहीं पहुँच पाया है। यहाँ इस पर चर्चा करना विषयान्तर होगा। स्वीकृत मान्यता के उपस्थापन पूर्वक हम यहाँ आर्य भाषाओं के सन्दर्भ में कुछ चर्चा करेंगे।

भाषा शास्त्रियों ने भारतीय आर्य भाषाओं का कालिक दृष्टि से निम्नांकित रूप में विभाजन किया है—

(१) प्राचीन भारतीय आर्य (Early Indo Aryan) भाषा-काल।
(२) मध्यकालीन भारतीय आर्य (Middle Indo Aryan) भाषा-काल।
(३) आधुनिक भारतीय आर्य (Later Indo Aryan) भाषा-काल।

विद्वानों ने प्राचीन आर्य भाषाओं का समय १५०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक, मध्यकालीन आर्य भाषाओं का समय ५०० ई० पूर्व से १००० ई० तक तथा आधुनिक आर्य भाषाओं का समय १००० ई० से २० वीं० शती तक स्वीकार किया है।

इस विभाजन के प्रथम विभाग में भाषा वैज्ञानिकों ने वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत को लिया है। वैदिक संस्कृत को छन्दस् भी कहा जाता है। वेदों में तथा तत्सम्बद्ध ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद् आदि ग्रन्थों में उसका प्रयोग हुआ है। लौकिक संस्कृत का लिखित रूप हमें वाल्मीकि रामायण और महाभारत से प्राप्त होता है।

द्वितीय विभाग में शिलालेखी प्राकृत, पालि, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची, महाराष्ट्री आदि प्राकृतें तथा अपभ्रंश को ग्रहण किया गया है।

तृतीय विभाग में अपभ्रंश-निःसृत आधुनिक भाषाएँ स्वीकार की गई हैं।

Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

हमें विशेषरूप से द्वितीय विभाग—मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-काल के सन्दर्भ में विचार करना है, जिसे प्राकृत-काल भी कहा जाता है। इसे भी तीन भागों में बाँटा गया है—

(१) प्रथम प्राकृत-काल (Early Middle Indo Aryan)
(२) द्वितीय प्राकृत-काल (Middle Middle Indo Aryan)
(३) तृतीय प्राकृत-काल (Later Middle Indo Aryan)

प्रथम प्राकृत-काल में पालि और शिलालेखी प्राकृतों, द्वितीय प्राकृत-काल में मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची आदि साहित्यिक (जो आगे चलकर लोक-भाषा से साहित्यिक भाषा के रूप में परिवर्तित हो गई थीं) प्राकृतों तथा तृतीय प्राकृत-काल में अपभ्रंशों का स्वीकार किया गया है।

आलोचना

उपर्युक्त काल विभाजन में प्राकृतों को वैदिक व लौकिक संस्कृत के पश्चात् रखा है। जैसाकि पहले संकेतित हुआ है, प्राचीनकाल से ही एक मान्यता रही है कि प्राकृत संस्कृत से निकली है। अनेक विद्वानों का अब भी ऐसा ही अभिमत है। आर्य-भाषाओं का यह जो काल-विभाजन हुआ है, इस पर इस मान्यता की छाप है। यह आलोच्य है।

वैदिक संस्कृत का काल लौकिक संस्कृत से पहले का है। वैदिक संस्कृत एक व्याकरणनिष्ठ साहित्यिक भाषा है। यद्यपि इसके व्याकरण सम्बन्धी बन्धन लौकिक संस्कृत की तुलना में अपेक्षाकृत कम हैं, फिर भी वह उनसे मुक्त नहीं है। वैदिक संस्कृत कभी जन-साधारण की बोलचाल की भाषा रही हो, यह सम्भव नहीं जान पड़ता। तब सहज ही यह अनुमान होता है कि वैदिक संस्कृत के समय में और उससे भी पूर्व इस देश में ऐसी लोक-भाषाएँ या बोलिय अवश्य रही हैं, जिन द्वारा जनता का व्यवहार चलता था। उन बोलियों को हम प्राचीन स्तरीय प्राकृतें कह सकते हैं। इनका समय अनुमानतः २००० ई० पूर्व से ७०० ई० पूर्व तक का माना जा सकता है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी इस ओर कुछ इंगित किया है। उन्होंने उन लोक-भाषाओं के लिए Primary Prakritas (प्राथमिक प्राकृतें) शब्द का व्यवहार किया है।

इससे यह अनुमेय है कि ये जो लोक-भाषाएँ (बोलियाँ) या प्रथम स्तरीय प्राकृतें वैदिक संस्कृत या छन्दस् से पूर्व से ही चली आ रही थीं, उन्हीं में से, फिर जब अपेक्षित हुआ, किसी एक जन-भाषा बोली या प्राकृत के आधार पर वैदिक संस्कृत का गठन हुआ हो, जो वस्तुतः एक साहित्यिक भाषा है। बोली और भाषा में मुख्यतया यही अन्तर है, बोली का साहित्यिक दृष्टि से कोई निश्चित रूप नहीं होता क्योंकि वह साधारणतः बोलचाल के ही प्रयोग में आती है। जब लेखन में, साहित्य-सर्जन में कोई बोली प्रयुक्त होने लगती है तो उसका कलेवर बदल जाता है। उसमें परिनिष्ठितता आ जाती है ताकि वह तत्सम्बद्ध विभिन्न स्थानों में एकरूपता लिए रह सके। वैदिक संस्कृत इसी प्रकार की भाषा है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो प्राकृत की निकटता लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत के साथ अधिक है। इस युग के महान् प्राकृत वैयाकरण, जर्मन विद्वान् डॉ० आर० पिशल (R. Pischel) के वैदिक संस्कृत तथा प्राकृत के कतिपय ऐसे सदृश रूप अपने व्याकरण में तुलनात्मक दृष्टि से उद्धृत किये हैं, जिनसे उपर्युक्त तथ्य पुष्ट होता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि साधारणतः भाषा वैज्ञानिक जिन प्राकृतों को मध्यकालीन आर्य भाषा-काल में रखते हैं, वे द्वितीय स्तर की प्राकृतें हैं। प्रथम स्तर की प्राकृतें, जिनकी ऊपर चर्चा की है, का कोई भी रूप आज उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि अनेक भाषा-शास्त्रियों का उनकी ओर विशेष ध्यान नही गया। पर, यह, अविस्मरणीय है कि वैदिक संस्कृत का अस्तित्व ही इस तथ्य का सर्वाधिक साधक प्रमाण है।

अब हम संक्षेप में इस मध्यकालीन आर्य भाषा-काल की या द्वितीय स्तर की प्राकृतों पर संक्षेप में विचार करेंगे।[४]

पालि

पालि इस (मध्यकालीन आर्य भाषा) काल की मुख्य भाषा है। इसका समय ई० पूर्व ५वीं शती से प्रथम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या द्वितीय ईसवी शती माना जाता है। वस्तुतः यह मागधी प्राकृत है, जिसमें भगवान बुद्ध ने उपदेश किया। पालि इसका पश्चाद्‌वर्ती नाम है, जिसके सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की हैं। कइयों ने इसे पंक्ति (पंक्ति > पन्ति > पत्ति > पट्टि > पल्लि > पालि), कइयों ने पल्लि (पल्लि > पालि), कइयों ने प्राकृत (प्राकृत > पाकट > पाउड > पाऊल > पालि), कइयों ने प्रालेय (प्रालेय > पालेय > पालि) कइयों ने पाठ (पालि में ठ का ल हो जाता है अतः पाठ > पाल > पाल > पालि), कइयों ने प्रकट (प्रकट > पाऊड > पाऊल > पालि), कइयों ने पाटलि (पाटलि > पाअलि > पालि) तथा कइयों ने परियाय (परियाय) > पलियाय > पालियाय > पालि) को इसका मूल माना है। इस मत के पुरस्कर्ता पालि के सुप्रसिद्ध विद्वान् बौद्ध भिक्षु श्री जगदीश काश्यप हैं, जिसे (इस मत को) सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है।

भगवान बुद्ध के वचन (उपदेश) त्रिपिटक के रूप में पालि में सुरक्षित हैं।

शिलालेखी प्राकृत

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-काल के प्रथम युग में पालि के साथ शिलालेखी प्राकृतें भी ली गई हैं। ये अशोकीय प्राकृतें भी कही जाती हैं। सम्राट् अशोक के अनेक आदेश-लेख लाटों, चट्टानों आदि पर उत्कीर्ण हैं। इसी कारण उनमें प्रयुक्त प्राकृतों को शिलालेखी प्राकृतें कहा जाता है। अशोक की भावना थी कि उसके विभिन्न प्रदेशवासी प्रजाजन उसके विचारों से अवगत हों, लाभान्वित हों अतः एक ही लेख भिन्न-भिन्न प्रदेशों में प्रचलित भिन्न-भिन्न प्राकृतों के प्रभाव के कारण कुछ-कुछ भिन्नता लिये हुए है।

प्राकृतें

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-काल का दूसरा भाग उन प्राकृतों का है, जिनका समय ईसवी सन् के प्रारम्भ से ५०० ई० तक माना जाता है।

कुछ विद्वानों ने इसका थोड़े भिन्न प्रकार से भी स्पष्टीकरण किया है। उनके अनुसार—पालि और शिलालेखी प्राकृत का समय छठी शती ईसवी पूर्व से दूसरी शती ईसवी पूर्व तक तथा साहित्यिक प्राकृतों का समय दूसरी ईसवी शती से छठी शती तक का है। दो सौ ईसवी पूर्व से दो सौ ईसवी सन् तक का—चार शताब्दियों का समय बीच में आता है। इसे प्राकृतों के संक्रान्ति-काल के नाम से अभिहित किया गया है। इस संक्रान्ति-काल की प्राकृत सम्बन्धी सामग्री तीन रूपों में प्राप्त हैं—(१) अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत, (२) धम्मपद की प्राकृत तथा (३) निय प्राकृत।

संक्रान्ति-काल के रूप में जो यह स्थापना की जाती है, अध्ययन की दृष्टि से यद्यपि कुछ उपयोगी हो सकती है पर, वास्तव में यह कोई पृथक् काल सिद्ध नहीं होता। यह मध्यकालीन आर्य भाषा-काल के द्वितीय युग में ही आ जाता है।

परिचय की दृष्टि से उपर्युक्त प्राकृतों पर संक्षेप में कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

अश्वघोष प्रथम शती के एक विद्वान् बौद्ध भिक्षु थे। संस्कृत-काव्य-रचनाकारों में उनका प्राचीनता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। बुद्ध चरितम्, सौन्दरनन्दम् संज्ञक काव्यों के अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत में दो नाटक भी लिखे। इन नाटकों की खण्डित प्रतियाँ मध्य एशिया में प्राप्त हुई हैं। संस्कृत-नाटकों में आभिजात्य वर्गीय—उच्च कुलीन पात्रों की भाषा जहाँ संस्कृत होती है, वहाँ जन-साधारण—लोकजनीन पात्रों की भाषा प्राकृतें होती हैं। अश्वघोष के इन नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतें पुरानी मागधी, पुरानी शौरसेनी तथा पुरानी अर्द्धमागधी हैं। संभवतः अश्वघोष वे प्रथम नाटककार हैं, जिन्होंने नाटकों में सामान्य पात्रों के लिए प्राकृतों का प्रयोग आरम्भ किया।

अश्वघोष के इन नाटकों का जर्मन विद्वान् ल्यूडर्स ने संपादन किया है।

धम्मपद की प्राकृत

मध्य एशिया स्थित खोतान नामक स्थान में खरोष्ठी लिपि में सन् १८९२ में कुछ लेख प्राप्त हुए। प्राप्तकर्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फ्रान्स के पर्यटक दुत्र इल द रां थे। कतिपय भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने उन लेखों पर कार्य किया। अन्ततः यह प्रमाणित हुआ कि वह प्राकृत में लिखा हुआ धम्मपद है। भारत के मध्य-भाग तथा पूर्व-भाग में तब प्रायः ब्राह्मी लिपि का प्रचलन था और उत्तर-पश्चिमी भारत तथा मध्य पूर्व एशिया के कुछ भागों में खरोष्ठी लिपि प्रचलित थी। खरोष्ठी लिपि में लिखा हुआ होने से यह प्राकृत-धम्मपद खरोष्ठी धम्मपद भी कहा जाता है। इसका समय ईसा की दूसरी शती माना जाता है। इसमें जो प्राकृत प्रयुक्त है, भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश से सम्बद्ध प्रतीत होती है।

निय प्राकृत

निय एक प्रदेश का नाम है, जो चीनी तुर्किस्तान के अन्तर्गत है। वहाँ ई० सन् १९००-१९१४ के मध्य खरोष्ठी लिपि में कुछ लेख मिले। प्राप्तकर्ता ऑरेल स्टेन नामक विद्वान् थे। अनेक विद्वानों ने इन लेखों का बारीकी से अध्ययन किया। अन्ततः सुप्रसिद्ध भाषा-शास्त्री श्री टी० बरो ने इनका भाषात्मक दृष्टि से गम्भीर परिशीलन करने के पश्चात् इन्हें प्राकृत-लेख बताया। इनमें प्रयुक्त प्राकृत भी प्रायः भारत के पश्चिमोत्तर-प्रदेश से सम्बद्ध जान पड़ती है। लेख प्राप्ति के स्थान के आधार पर इसकी प्रसिद्धि 'निय प्राकृत' के नाम से हुई। इसका समय ई० तीसरी शती माना जाता है।

इस क्रम में अब वे प्राकृतें आती हैं, जिनमें अर्द्ध मागधी शौरसेनी आदि हैं। हम अर्द्धमागधी पर विशेष रूप से विचार करेंगे। श्वेताम्बर, जैन-आगम, जो अर्द्धमागधी में संग्रथित हैं मध्यकालीन आर्य-भाषा-काल की एक अमूल्य साहित्य-निधि है।

अर्द्ध मागधी

अर्द्धमागधी शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। शूरसेन-प्रदेश (मथुरा-व्रजभूमि से लेकर पश्चिमी उत्तर-प्रदेश का काफी भाग) में शौरसेनी प्राकृत तथा मगध-प्रदेश में मागधी प्राकृत का प्रचलन था। पूर्व भारत के उस भाग की भाषा, जो मागधी और शौरसेनी भाषी क्षेत्रों के बीच की थी आर्द्धमागधी कहलाई। एक व्याख्या तो यह है।

दूसरी व्याख्या के अनुसार वह भाषा जिसमें मागधी के आधे लक्षण मिलते थे, अर्द्धमागधी के नाम से अभिहित हुई। मागधी के मुख्य तीन लक्षण हैं—

१. मागधी में तालव्य श मूर्धन्य ष और दन्त्य स—तीनों के स्थान पर या सर्वत्र तालव्य श का प्रयोग होता है।

२. र के स्थान पर ल होता है।

३. अकारान्त शब्दों की प्रथमा विभक्ति के एक वचन का प्रत्यय ए होता है।

मागधी के ये तीन लक्षण अर्द्धमागधी में पूरे घटित नहीं होते, आधे घटित होते हैं। जैसे—

१. अर्द्धमागधी में तालव्य श का प्रयोग नहीं होता।

२. र के स्थान पर ल का कहीं-कहीं प्रयोग होता है।

३. अकारान्त शब्दों की प्रथमा विभक्ति के एकवचन में प्रायः ए प्रत्यय प्रयुक्त होता है।

यों 'ए' के प्रयोग की प्रायः पूरी तथा ल के प्रयोग की आधी व्यापकता अर्द्धमागधी में है। अर्थात् मागधी के तीन लक्षणों का लगभग अर्द्ध अंश इस पर लागू होता है इसलिए इसकी संज्ञा अर्द्धमागधी हुई।

सामान्यतः अर्द्धमागधी की निम्नांकित पहचान है—

१. इसमें तालव्य श, मूर्धन्य ष तथा दन्त्य स—तीनों के लिए केवल दन्त्य स का ही प्रयोग होता है। शौरसेनी तथा महाराष्ट्री में भी ऐसा ही है।

२. दन्त्य वर्ण अर्थात् तवर्ग आदि मूर्धन्य वर्ण टवर्ग आदि के रूप में प्राप्त होते हैं।

३. दूसरी प्राकृतों में प्रायः स्वरों के मध्यवर्ती स्पर्श (कवर्ग से पवर्ग तक के) वर्ण लुप्त हो जाते हैं—वहाँ अर्द्धमागधी में प्रायः 'य' श्रुति प्राप्त होती है।

४. सप्तमी विभक्ति—अधिकरण कारक में इसमें ए और म्मि के सिवाय अंसि प्रत्यय का भी प्रयोग पाया जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह सामान्यतः प्राकृतों का तथा तदन्तर्गत अर्द्धमागधी का भाषा-वैज्ञानिक निरूपण है। यही अर्द्धमागधी श्वेताम्बर आगमों की भाषा है। पर, आगमों का जो रूप हमें प्राप्त है, उसका संकलन शताब्दियों पश्चात् का है। उस सम्बन्ध में यथा स्थान चर्चा करेंगे।

एक प्रश्न : एक समाधान

महावीर तथा बुद्ध समसामयिक थे, दोनों का प्रायः समान क्षेत्र में विहरण हुआ फिर दोनों की भाषा में अन्तर क्यों है ? यह एक प्रश्न है। बुद्ध मागधी में बोले और महावीर अर्द्धमागधी में। विस्तार में न जाकर बहुत संक्षेप में कुछ तथ्यों की यहाँ चर्चा कर रहे हैं। बुद्ध कोशल के राजकुमार थे। उनका कार्य-क्षेत्र मुख्यतः मगध और विदेह था। कौशल में प्रचलित जन-भाषा मगध और विदेह में साधारण लोगों द्वारा सरलता व सहजता से समझी जा सके, यह कम संभव रहा होगा। अतः बुद्ध को मागधी, जो मगध साम्राज्य की केन्द्रीय भाषा होने से उस समय बहुसम्मत भाषा थी, मगध और विदेह में तो वह समझी ही जाती थी, कौशल आदि में भी उसे अधिक न सही, साधारणतया लोग संभवतः समझ सकते रहे हों, अपनाने की आवश्यकता पड़ी हो। महावीर के लिए यह बात नहीं थी। वे विदेह के राजकुमार थे। जो भाषा वहाँ प्रचलित थी, वह मगध, विदेह आदि में समझी ही जाती थी अतः उन्हें यह अपेक्षित नहीं लगा हो कि वे मगध की केन्द्रीय भाषा को स्वीकार करें।

जैन आगमों का परिगठन

हमारे देश में प्राचीन काल से शास्त्रों को कण्ठस्थ रखने की परम्परा रही है। वेदों को जो श्रुति कहा जाता है, वह इसी भाव का द्योतक है। अर्थात् उन्हें गुरु-मुख से सुनकर याद रखा जाता था। बौद्ध पिटकों और जैन आगमों की भी यही स्थिति है। आगे चलकर बौद्ध तथा जैन विद्वानों को यह अपेक्षित प्रतीत हुआ कि शास्त्रों का क्रम व रूप आदि सुव्यवस्थित किये जाएँ ताकि उनकी परम्पराएँ अक्षुण्ण रहें। बौद्ध पिटकों की संगीतियाँ और जैन आगमों की वाचनाएँ इसका प्रतिफल है। बौद्ध पिटकों की मुख्यतः क्रमशः तीन संगीतियाँ हुईं, यद्यपि समय का अन्तर है पर, जैन आगमों की भी तीन वाचनाएँ हुईं।

प्रथम वाचना

जैन आगमों की पहली वाचना अन्तिम श्रुत-केवली आचार्य भद्रबाहु के शिष्य आचार्य स्थूलभद्र के समय में पाटलिपुत्र में हुई। तत्कालीन द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण अनेक श्रुतधर साधु दिवंगत हो गये थे। जो थोड़े-बहुत बचे हुए थे, वे इधर-उधर बिखरे हुए थे। यह भय था कि श्रुत-परम्परा कहीं विच्छिन्न न हो जाए अतः दुर्भिक्ष की समाप्ति के पश्चात् इसकी आयोजना की गई। इसमें दृष्टिवाद के अतिरिक्त ग्यारह अंगों का संकलन हुआ। दृष्टिवाद के संकलन का प्रयत्न तो हुआ पर उसमें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी।

इस द्वादशवर्षीय दुष्काल का समय वीर निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् अर्थात् लगभग ई० पूर्व ३६७ वर्ष माना जाता है। तब उत्तर भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य था। समय का तारतम्य बिठाने के लिए यह भी ज्ञातव्य है कि आचार्य स्थूलभद्र का दिवंगमन वीर निर्वाण के २१९ वर्ष पश्चात् माना जाता है।

द्वितीय वाचना

दूसरी वाचना का समय वीर निर्वाण के ८२७ वर्ष या ८४० वर्ष पश्चात् तदनुसार ईसवी सन् ३०० या ३१३ माना जाता है। यह वाचना आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में हुई। इस वाचना के साथ भी दुर्भिक्ष का सम्बन्ध जुड़ा है। भयानक अकाल के कारण भिक्षा मिलना दुर्लभ हो गया। विज्ञ साधु बहुत कम रह गये थे। आगम छिन्न-भिन्न होने लगे। इस दुष्काल के पश्चात् आयोजित सम्मेलन में उपस्थित साधुओं ने अपनी स्मृति के अनुसार आगम संकलित किये। मथुरा में होने के कारण इसे माथुरी वाचना कहा जाता है।

लगभग इसी समय सौराष्ट्र के वलभी नामक नगर में एक और साधु-सम्मेलन हुआ। आगम संकलित हुए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका नेतृत्व श्री नागार्जुन सूरि ने किया। अतः इसे नागार्जुनी वाचना कहा जाता है। वलभी में होने से प्रथम वलभी-वाचना भी कहा जाता है।

माथुरी और नागार्जुनी वाचना में आगम-सूत्रों का पृथक्-पृथक् संकलन हुआ। परस्पर कहीं-कहीं पाठ-भेद भी रह गया। संयोग ऐसा बना कि वाचना के पश्चात् आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन सूरि का परस्पर मिलन नहीं हो सका। इसलिए वाचना-भेद जैसा था, बना रह गया।

तृतीय या अन्तिम वाचना

भगवान महावीर के निर्वाण के ९८० वर्ष बाद या कइयों के मत में ९९३ वर्ष के अनन्तर तदनुसार ईसवी सन् ४५३ या ४६६ में वलभी में एक साधु-सम्मेलन का आयोजन हुआ। इसके अधिनेता देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण थे। आगम व्यवस्थित रूप से पुनः संकलित कर लिपिबद्ध किये जाएँ, यह सम्मेलन का उद्देश्य था। क्योंकि लोगों की स्मृति पहले जितनी नहीं रह गई थी। इसलिए भय होता जा रहा था कि यदि स्मृति के सहारे रहा जायेगा तो शायद हम परम्परा-प्राप्त श्रुत खो बैठेंगे।

इसे तृतीय या अन्तिम वाचना और वलभी की द्वितीय वाचना कहा जाता है। आगमों का संकलन हुआ। वे लिपिबद्ध किये गये। वही संकलन श्वेताम्बर जैन आगमों के रूप में आज प्राप्त है।

दिगम्बर-मान्यता

दिगम्बर जैन श्रुतांगों के नाम आदि तो प्रायः श्वेताम्बरों के समान ही मानते हैं। पर उनके अनुसार आगम-श्रुत का सर्वथा विच्छेद हो गया। दिगम्बरों द्वारा षट्खण्डागम-साहित्य आगम-श्रुत की तरह ही समादृत है। षट्खण्डागम की रचना आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्त द्वारा की गई, जिनका समय ईसा की प्रथम-द्वितीय शती के आस-पास माना जाता है।

षट्खण्डागम की भाषा शौरसैनी प्राकृत है, इसे जैन शौरसेनी कहा जाता है क्योंकि इस पर अर्द्ध मागधी की छाप है। दिगम्बर आचार्यों द्वारा और भी जो धार्मिक साहित्य रचा गया, वह (जैसे आचार्य कुन्द-कुन्द के समयसार, प्रवचन सार, पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थ तथा इसी तरह अन्यान्य आचार्यों की कृतियाँ प्रायः इसी (शौरसेनी प्राकृत) में है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में शूरसेन-प्रदेश दिगम्बर-जैनों का मुख्य केन्द्र रहा था अतः वहीं की प्राकृत को दिगम्बर-आचार्यों व लेखकों ने धार्मिक भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। इसी का यह परिणाम था कि द्रविड़-भाषा-परिवार के क्षेत्र—दक्षिण देश के दिगम्बर-आचार्यों ने भी धार्मिक ग्रन्थों की रचना शौरसेनी में ही की, जबकि उनकी मातृभाषाएं तमिल, कन्नड़ या तेलगू आदि थी। शौरसेनी के साथ कुछ धार्मिक पावित्र्य का भाव जुड़ गया था। महान् लेखक आचार्य कुन्द-कुन्द, जिन्हें दिगम्बर-परम्परा में श्रद्धास्पदता की कोटि में आर्य जम्बू के बाद सर्वातिशायी गिना जाता[५] है, वे (तमिल देशोत्पन्न) दाक्षिणात्य ही थे।

आगम : रूप : भाषा : प्रामाणिकता

प्रश्न उठना स्वाभाविक है, २५०० वर्ष पूर्व जो श्रुत अस्तित्व में आया, अन्ततः लगभग एक सहस्र वर्ष पश्चात् जिसका संकलन हुआ और लेखन भी; उद्भव और लेखन की मध्यवर्ती अवधि में आगम-श्रुत में क्या कुछ भी परिवर्तन नहीं आया, भगवान महावीर के अनन्तर जैन-धर्म केवल बिहार या उसके आस-पास के क्षेत्रों में ही नहीं रहा, वह भारत के दूर-दूर के प्रदेशों में फैलता गया, जहाँ प्रचलित भाषाएँ भिन्न थीं। इसके अतिरिक्त अनेक भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लोग श्रमण-धर्म में प्रव्रजित हुए, जिनकी मातृभाषाएँ भिन्न-भिन्न थीं, फिर यह कैसे संभव है कि उनके माध्यम से आगे बढ़ता आगमिक वाक्प्रवाह उसी रूप में स्थिर रह सका, जैसा भगवान महावीर के समय में था। किसी अपेक्षा से बात तो ठीक है, कोई भी भाषा-शास्त्रीय विद्वान् यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि आगमों का आज ठीक अक्षरशः वही रूप है, जो उनके उद्भव-काल में था। पर यह तथ्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि शब्द-प्रामाण्य में सर्वाधिक आस्था और अभिरुचि होने के कारण इस ओर सभी श्रमणों का प्रबल झुकाव रहा कि आगमिक शब्दावली में जरा भी परिवर्तन न हो।

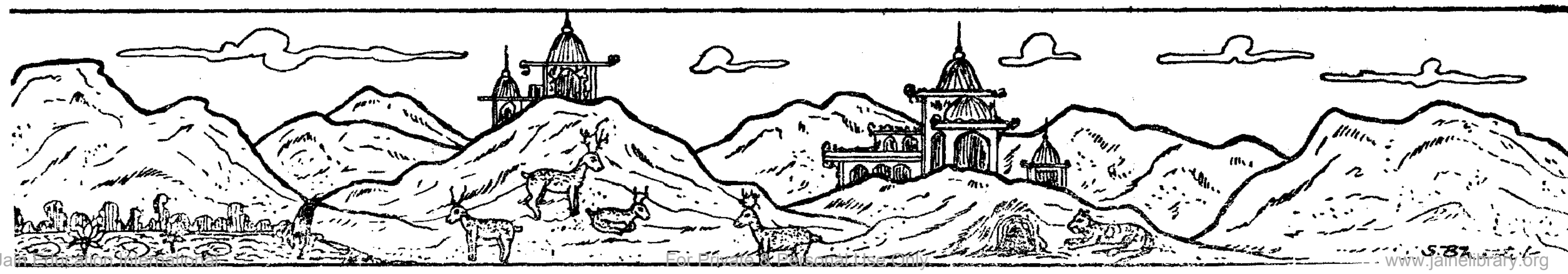

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आगमों की शब्द-संरचना का अधिकांशतः यह प्रकार है—गणधर गौतम तीर्थंकर महावीर से जिज्ञासा करते हैं, महावीर उत्तर देते हैं। आगे जम्बू सुधर्मा से प्रश्न करते हैं, सुधर्मा समाधान करते हैं पर, वे अपनी समाधायक शब्दावली का तांता तीर्थङ्कर महावीर की वाणी से जोड़ते हैं अर्थात् उनके उत्तर की भाषा कुछ इस प्रकार की बनती है कि यही प्रश्न गौतम द्वारा पूछे जाने पर भगवान महावीर ने इसका इस प्रकार उत्तर दिया था। तीर्थंकरभाषिता या आर्षता का सम्बन्ध शब्द-समुच्चय के साथ सदा बना रहे, ऐसा भाव रहने की ध्वनि इससे निकलती है, जिससे उपर्युक्त तथ्य समर्थित होता है।

आगम-पाठ के परम्परा-स्रोत के सम्बन्ध में एक बात और ज्ञातव्य है। जैन-शास्त्रों के अनुसार आचार्य आगमों की अर्थ-वाचना देते हैं अर्थात् वे आगम पाठगत अर्थ—आशय का विश्लेषण-विवेचन कर उसका भाव अन्तेवासियों को हृदयंगम कराते हैं। उपाध्याय सूत्र-वाचना देते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि सूत्रों के पाठोच्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशदता, अपरिवर्त्यता या स्थिरता बनाये रखने के हेतु उपाध्याय पारम्परिक तथा शब्दशास्त्रीय दृष्टि से अन्तेवासी श्रमणों को मूल पाठ का सांगोपांग शिक्षण देते हैं।

अनुयोग द्वार सूत्र में 'आगमतः द्रव्यावश्यक' के सन्दर्भ में पाठन या वाचन का विवेचन करते हुए तत्सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रतीत होता है कि पाठ की एक अक्षुण्ण तथा स्थिर परम्परा जैन-श्रमणों में रही है। आगम-पाठ को यथावत् बनाये रखने में इससे बड़ी सहायता मिली है।

आगम-गाथाओं का उच्चारण कर देना मात्र पाठ या वाचन नहीं है। अनुयोग द्वार सूत्र में पद के शिक्षित, स्थित, जित, मित, परिजित, नामसम, दोषसम, अहीनाक्षर, अनत्यक्षर, अव्याविद्धाक्षर, अस्खलित, अमिलित, अव्यत्याम्रेडित, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्ण घोष तथा कण्ठौष्ठविप्रमुक्त—ये सोलह विशेषण दिये गये हैं।

इन सबके विश्लेषण का यहाँ अवकाश नहीं है। इस सारे विवेचन का तात्पर्य यही है कि आगम-वाङ्मय का शाब्दिक रूप यथावत् रहे, इस ओर प्राचीनकाल से ही अत्यधिक जागरूकता बरती जाती रही है।

इतना सब होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि आगमों के शाब्दिक रूप में किञ्चित् मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ। यदि ऐसा होता तो आचारांग व सूत्रकृतांग में प्रयुक्त भाषा के समकक्ष या सदृश भाषा का ही प्रयोग अन्य अंग, उपांग आदि ग्रन्थों में भी होता। पर, वैसा नहीं है। थोड़ी ही सही भाषात्मक भिन्नता है, जो कालिक स्तर-भेद पर आवृत है। इससे यह सिद्ध होता है कि आगमों में शाब्दिक या भाषात्मक कुछ न कुछ परिवर्तन हुआ ही है पर, उपर्युक्त अत्यधिक जागरूकता के कारण वह अपेक्षाकृत कम हुआ है, जिससे आगम आज भी अपने मूल रूप से इतने दूर नहीं कहे जा सकते, जिससे उनकी मौलिकता व्याहत हो।

महाराष्ट्री में रचनाएँ

प्राकृत में प्रबन्ध-काव्य, आख्यायिका, चरित-कथा आदि जो साहित्य रचा गया, वह महाराष्ट्री (प्राकृत) में है। डॉ० सुकुमार सेन, डॉ० मनमोहन घोष आदि भारतीय भाषा वैज्ञानिक महाराष्ट्री को शौरसेनी का उत्तरवर्ती विकसित रूप मानते हैं।

महाराष्ट्री में व्यञ्जन-लोप तथा य श्रुति की प्रधानता है; जिससे श्लेष, यमक आदि पद-सौन्दर्य प्रधान, अनेकार्थक रचनाएँ बड़ी सुगमता और उत्कृष्टता से साध्य हैं। महाराष्ट्री का साहित्य बहुत समृद्ध है। महाकवि हाल की गाहासत्तसई (गाथा-सप्तशती), प्रवरसेन का रावणवहो (रावणवधः) या सेतुबन्ध, जयवल्लभ का वज्जालग्ग (व्रज्यालग्न), हरिभद्र की समराइच्चकहा (समरादित्य-कथा), उद्योतन की कुवलयमाला आदि इस भाषा की अमर कृतियाँ हैं।

तृतीय प्राकृतकाल या अपभ्रंशकाल

प्राकृतों का विकास अपभ्रंशों के रूप में हुआ। इनका समय ७०० ईसवी से १००० ईसवी तक माना जाता है। अपभ्रंशों के भी प्राकृतों की तरह अनेक भेद थे। उनमें नागर, उपनागर एवं व्रायड़ मुख्य थे। अवहट्ट, अवहत्थ, अवहंस आदि इसके पर्याय हैं। इनका संस्कृत रूप अपभ्रष्ट या अपभ्रंश है। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। जब कोई बोली साहित्यिक रूप ले लेती है, तदनुसार व्यवस्थित तथा परिनिष्ठित हो जाती है, तब उसका बोलचाल में प्रयोग नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहता । फलतः लोक-व्यवहार हेतु एक नई बोली का उद्‌भव होता है, जिसमें सरलीकृत, सर्व सुगम शब्दों का प्रयोग होने लगता है । व्याकरण-शुद्धता का स्थान वहाँ गौण होता है, भावज्ञापन का मुख्य । इस प्रकार नवोद्‌भूत बोलियों या प्राक्तन बोलियों के जन-जन द्वारा व्याह्रियमाण ये सरल एवं सुबोध्य शब्द, जो उक्त साहित्यिक भाषा के व्याकरण से असिद्ध होते हैं, पण्डितों द्वारा विकृत, अशुद्ध, भ्रष्ट, अपभ्रष्ट या अपभ्रंश युक्त माने जाते हैं । ऐसे शब्दों के प्रयोग में दोष तक कहा गया है ।

महाभाष्य का एक प्रसंग है । व्याकरण के प्रयोजनों के विश्लेषण के सन्दर्भ में कहा गया है कि वह शब्दों का शुद्ध प्रयोग सिखाती है । उसी प्रसंग में शब्दों के शुद्ध प्रयोग पर विशेष बल देते हुए कहा है—

"शब्दों के प्रयोग में निपुण व्यक्ति व्यवहार करते समय शब्दों का यथावत् रूपेण शुद्ध प्रयोग करता है । वाक्-योग अर्थात् शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानने वाला वह व्यक्ति परलोक में अनन्त जय, अपरिसीम सौभाग्य प्राप्त करता है । जो व्यवहार में अपशब्दों का प्रयोग करता है, वह दोष—पाप का भागी होता है । ऐसा क्यों ? इसलिए कि जो शब्दों को जानता है, वह अपशब्दों को भी जानता है । जैसे शब्दों के जानने में धर्म है, वैसे ही अपशब्दों के जानने में अधर्म है, अपशब्द बहुत हैं, शब्द थोड़े हैं ।"[७]

आगे अपशब्दों के उदाहरण देते हुए महाभाष्यकार ने कहा है—

"एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश अर्थात् अपभ्रष्ट (बिगड़ते हुए) रूप हैं । जैसे गौः के लिए गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश हैं ।"

महाभाष्यकार के कथन से स्पष्ट है कि व्याकरण-परिष्कृत भाषा के साथ-साथ जन-साधारण में प्रसृत लोक-भाषा के अनेक रूप उनके समक्ष थे, जिनमें प्रयुज्यमान शब्दों का शुद्ध भाषा—संस्कृत में प्रयोग न करने की ओर उनका विशेष रूप से संकेत है ।

इस सन्दर्भ में भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन का प्रकार दूसरा है । वहाँ परिनिष्ठित, व्याकरण की सीमाओं से परिबद्ध भाषा से उद्‌गत जन-भाषा, जिसमें जन-साधारण की सुविधा के हेतु असंश्लिष्ट तथा सरलीकृत शब्द प्रयुक्त होते हैं, विकृति नहीं कही जाती, भाषा-वैज्ञानिकों के शब्दों में वह पिछली भाषा की विकासावस्था है । भाषा-जगत् में यह विकास-क्रम अनवरत चलता रहता है, जिसकी अपनी उपयोगिता है ।

अस्तु-उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अपभ्रंश शब्द आर्यभाषा-काल के प्राचीन युग में भी प्रयोग में आता रहा है पर, वह भाषा-विशेष के अर्थ में नहीं था । वह उन शब्दों के अर्थ में था, जो पंडितों की दृष्टि से विकृत तथा भ्रष्ट थे और भाषावैज्ञानिकों की दृष्टि से विकसित ।

यहाँ मध्यकालीन आर्यभाषा-काल के विवेचन में प्रयुक्त अपभ्रंश शब्द जैसा कि पहले संकेत किया गया है, उन भाषाओं के लिए है, जो विभिन्न प्राकृतों के उत्तरवर्ती विकसित रूप लिये हुए थीं । आगे चलकर अपभ्रंश में प्रचुर परिमाण में लोक-साहित्य रचा गया । आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में प्राकृत (महाराष्ट्री), मागधी, अर्द्ध-मागधी (आर्ष), शौरसेनी, पैशाची, चूलिका पैशाची—इन प्राकृत भेदों के साथ अपभ्रंश को भी प्राकृत का एक भेद मानते हुए विवेचन किया है। विशेषतः अपभ्रंश के वे उदाहरण, जो हेमचन्द्र ने उपस्थित किये हैं, अनेक अपेक्षाओं से महत्त्वपूर्ण हैं । हेमचन्द्र जिस प्रदेश में थे, वह नागर-अपभ्रंश का क्षेत्र रहा था । नागर का अपभ्रंशों में विशिष्ट स्थान है ।

अपभ्रंशों के साथ मध्यकालीन आर्यभाषा-काल परिसमाप्त हो जाता है । विकास-क्रम के नैसर्गिक नियम के अनुसार विभिन्न अपभ्रंश आधुनिक भाषाओं के रूप में परिणत हो जाते हैं ।

प्राकृत-वाङ्‌मय : परिशीलन : महत्त्व

प्राकृत-साहित्य, विशेषतः अर्द्धमागधी आगमों के रूप में संग्रथित प्राकृत-वाङ्‌मय के अध्ययन का केवल जैन-सिद्धान्त ज्ञान की दृष्टि से ही नहीं, अनेक दृष्टियों से असाधारण महत्त्व है । इस प्राचीन भाषा का इतना विराट् और विपुल साहित्य और किसी भी रूप में कहीं भी उपलब्ध नहीं है । सहस्राब्दियों पूर्व का भारतीय लोक-जीवन, सामाजिक परम्पराएँ, धार्मिक मान्यताएँ, चिन्तन-धाराएँ, व्यापार-व्यवसाय, कृषि, कला, वाणिज्य, राजनीति, अध्यात्म-साधना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की विभिन्न पद्धतियाँ आदि अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं, जिनके व्यापक एवं तुलनात्मक ज्ञान के दृष्टिकोण से इस वाङ्मय का परिशीलन नितान्त उपयोगी है।

भाषाशास्त्रीय अध्ययन तथा मध्यकालीन आर्य-भाषाओं के अन्तिम रूप अपभ्रंश से विकसित आधुनिक आर्य-भाषाओं के व्यापक व तलस्पर्शी ज्ञान की दृष्टि से भी प्राकृतों का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है, आवश्यक है। सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है—

"······प्राकृत का ज्ञान केवल पुरानी हिन्दी को समझने के लिए ही नहीं प्रत्युत पुरानी राजस्थानी, पुरानी गुजराती, पुरानी मराठी, पुरानी बंगला, पुरानी मैथिली के साहित्य को समझने के लिए भी एक अनुपम आधार है। वास्तव में प्राकृत का ज्ञान मध्यकालीन आर्य-भाषा परिवार की सभी भाषाओं को समझने में एक-सा उयोगी है।"[९]

खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हमारे देश में प्राकृतों के अध्ययन की परम्परा के उत्तरोत्तर क्षीण होते जाने के कारण ज्ञान के क्षेत्र में भाषात्मक सूक्ष्म परिशीलन का पक्ष अपेक्षाकृत दुर्बल हो गया। आज इस ओर अध्ययन के क्षेत्र में कुछ चेतना दृष्टिगोचर हो रही है। वह उत्तरोत्तर प्रगतिशील तथा विकसित बनती जाए, यह सर्वथा वाञ्छनीय है।

---

१ दशवैकालिक वृत्ति, पृ० २०३

२ अकृत्रिमस्वादुपदां, परमार्थाभिधायिनीम्।
सर्वभाषा परिणतां, जैनीं वाचमुपास्महे॥ —(आचार्य हेमचन्द्र रचित काव्यानुशासन प्रथम कारिका)
—काव्यानुशासन की अलंकार चूड़ामणि नामक स्वोपज्ञ टीका में इस कारिका की व्याख्या के अन्तर्गत—अकृत्रिमाणि असंस्कृतानि, अतएव स्वादूनि मन्दधियामपि पेशलानि पदानि यस्यामिति विग्रहः।······तथा सुरनर तिरश्चां विचित्रासु भाषासु परिणतां तन्मयतां गतां सर्वभाषा परिणतात्र। एक रूपाऽपि हि भगवतोऽर्धमागधी भाषा वारिद विमुक्तवारिवद् आश्रयानुरूपतया परिणमति।
इसी प्रसंग में निम्नांकित प्राचीन श्लोक भी उद्धृत किया गया है—

देवा दैवीं नरा नारीं, शबराश्चापि शाबरीम्।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं, मेनिरे भगवद् गिरम्॥

३ आरिसवयणे सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी।

४ Comparative grammar of the Prakrit languages, Page 4

५ मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मस्तु मंगलम्॥

६ अनुयोगद्वार सूत्र १९

७ यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे, शब्दान् यथावद् व्यवहार काले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र, वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥
कः? वाग्योगविदेव! कुत एतत्? यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमप शब्दज्ञानेऽप्यधर्मः, अथवा भूयान् धर्मः प्राप्नोति। भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति। —महाभाष्य प्रथम आह्निक पृष्ठ ७–८

८ एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा—गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येव मादयोऽपभ्रंशः। —महाभाष्य प्रथम आह्निक पृष्ठ ८

9 ······the knowledge of Prakrit in an ambrosia for understanding not only the old-Hindi literature but also the literature in Old-Rajasthani, Old-Gujarati, Old-Marathi, Old-Bengali, Old-Maithili etc., and in fact for all the languages of the Middle Indo-Aryan group. —पाइअ सद्द महण्णवो की प्रस्तावना, पृष्ठ I

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org